1935G Faulty Assumptions

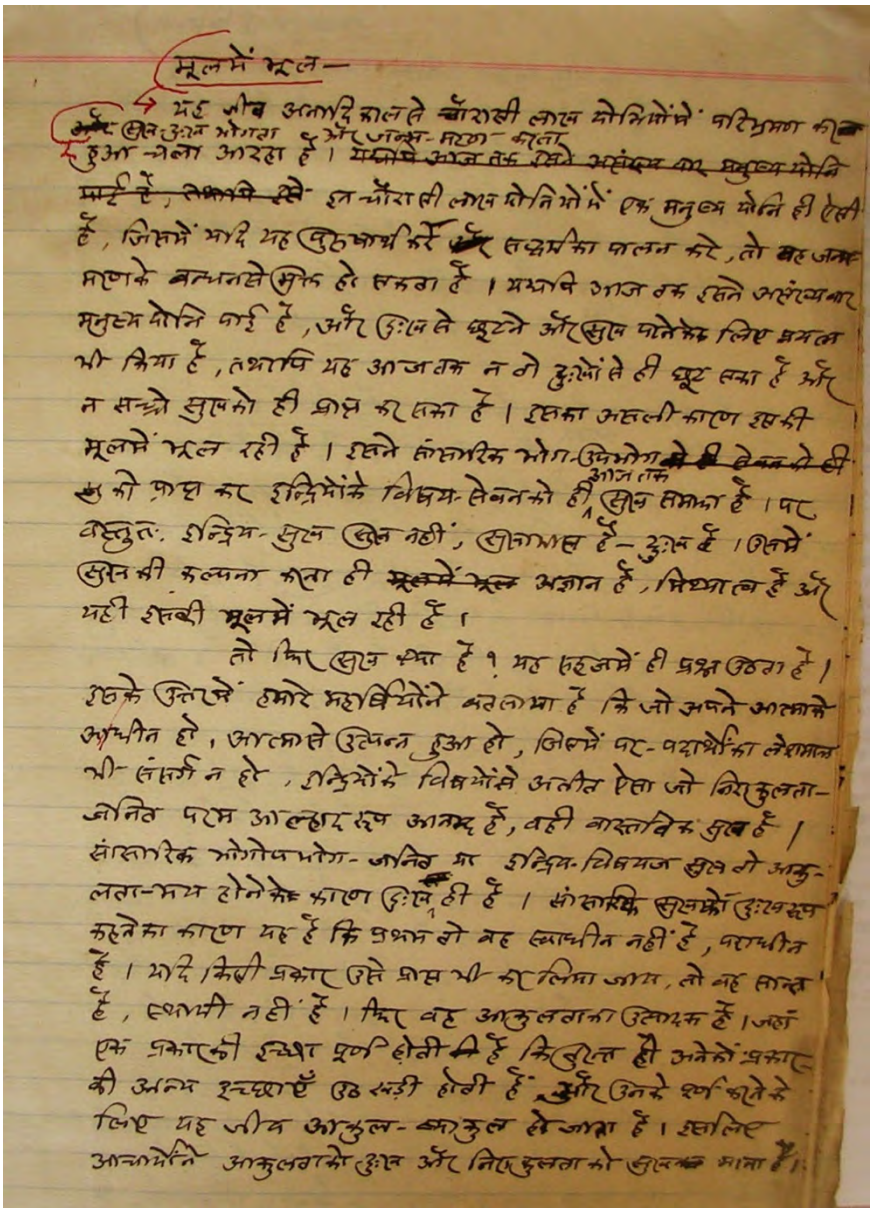

भूलमें भूल—

यह जीव अनादि कालसे चौरासी लाख योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ चला आरहा है। ~~यद्यपि आज तक किसे असंख्य बार मनुष्य योनि मिली है, लेकिन इसे~~ इन चौरासी लाख योनियोंमें एक मनुष्य योनि ही ऐसी है, जिसमें यदि यह पुरुषार्थ करे और लक्ष्यका पालन करे, तो यह जन्म मरणके बन्धनसे मुक्त हो सकता है। यद्यपि आज तक इसने असंख्यबार मनुष्य योनि पाई है, और उससे छूटने और सुख पानेके लिए प्रयत्न भी किया है, तथापि यह आजतक न तो दुःखोंसे ही छूट सका है और न सच्चे सुखको ही प्राप्त कर सका है। इसका असली कारण इसकी भूलमें भूल रही है। इसने सांसारिक भोग-उपभोग ~~को ही सेवन करने~~ को ही आज तक सुख समझा है। पर वस्तुतः इन्द्रिय-सुख सुख नहीं, सुखाभास है—दुःख है। उसमें सुखकी कल्पना करना ही ~~भूलमें भूल~~ अज्ञान है, मिथ्यात्व है और यही इसकी भूलमें भूल रही है।

तो फिर सुख क्या है? यह सहजमें ही प्रश्न उठता है। इसके लिये हमारे महर्षियोंने बतलाया है कि जो अपने आत्माके आधीन हो, आत्मासे उत्पन्न हुआ हो, जिसमें पर-पदार्थोंका लेशमात्र भी संसर्ग न हो, इन्द्रियोंके विषयोंसे अतीत ऐसा जो निराकुलता-जनित परम आल्हाद रूप आनन्द है, वही वास्तविक सुख है। सांसारिक भोगोपभोग-जनित या इन्द्रिय-विषयज सुख तो आकुलता-मय होनेके कारण दुःख ही है। सांसारिक सुखको दुःखरूप कहनेका कारण यह है कि प्रथम तो वह स्वाधीन नहीं है, पराधीन है। यदि किसी प्रकार उसे प्राप्त भी कर लिया जाय, तो वह स्थायी है, स्थायी नहीं है। फिर वह आकुलताका उत्पादक है। जहाँ एक प्रकारकी इच्छा पूर्ण होती है कि तुरन्त ही अनेकों प्रकार की अन्य इच्छाएँ उठ खड़ी होती हैं, और उनके पूर्ण करनेके लिए यह जीव आकुल-व्याकुल हो जाता है। इसलिए आचार्योंने आकुलताको दुःख और निराकुलता को सुख माना है।

धर्मकी आवश्यकता—

इस निराकुलता-जनित सहज सुखको प्राप्त करनेके लिए ही धर्म-धारण करनेकी आवश्यकता बतलाई गई है। पर वह धर्म क्या वस्तु है, उसका क्या स्वरूप है और उसका आचरण कैसे किया जाता है, इत्यादि प्रश्न स्वाभाविक: एक जिज्ञासु या मुमुक्षु मनुष्यके हृदयमें उत्पन्न होते हैं और उनके समाधानार्थ महापुरुषोंने समय-समय पर धर्मतत्त्वका निरूपण किया है। महापुरुषोंके द्वारा उपदिष्ट इन धर्मोंकी यदि गणना की जावे, तो वह सैकड़ोंकी संख्या तक पहुंचेगी।

सच्चा धर्म कौनसा है? आजके संसारमें प्रचलित सैकड़ों धर्मोंमेंसे सच्चा धर्म कौनसा है, इसका उत्तर देना प्रकृति सरल काम नहीं है, तथापि इसके लिए—धर्मकी परख करनेके लिए—'अहिंसा' की एक कसौटी हमारे महर्षियोंने 'अहिंसा परमो धर्मः' कहकर 'अहिंसा' को एक कसौटीके रूपमें प्रस्तुत किया है। यद्यपि प्रत्येक धर्ममें थोड़ी-बहुत अहिंसा अवश्य दिखाई देती है, तथापि किसी धर्ममें वह अपनी जातितक ही सीमित है, तो किसीमें वह अपने देश या राष्ट्र तक। किसीमें वह मानव तक सीमित है, तो किसीमें कुछ पशु-पक्षियों तक। इस प्रकार कुछ भाग धर्म अहिंसा की कसौटी पर शत-प्रतिशत खरे नहीं उतरते हैं। किन्तु 'अहिंसा' की इस कसौटी पर जब हम 'जैनधर्म' को कसते हैं, तो वह शत-प्रतिशत खरा उतरता है, इस लिए वह सच्चा और पूर्ण धर्म है क्योंकि इस धर्ममें मनुष्यादि स्थूल प्राणियोंसे लेकर एकेन्द्रिय जल, वायु, वनस्पति आदि सूक्ष्म जीव-जन्तुओं तक की रक्षाका विधान कर अहिंसाका प्रतिपादन किया गया है। इस लिए वह सच्चा और पूर्णधर्म है, ऐसा निःसंकोच कहा जा सकता है।

जैनधर्म क्या है? जिस प्रकार शैव, वैष्णव, बौद्ध, क्रिश्चियन या मुस्लिम धर्म शिव, विष्णु, बुद्ध, ईसा या हजरत मुहम्मद के द्वारा चलाये जानेसे उन उन नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं, जैनधर्मके बारेमें ऐसी बात नहीं है, क्योंकि 'जिन' नामका कोई व्यक्तिविशेष जैनधर्मका प्रवर्तक या संस्थापक नहीं माना गया है। किन्तु 'जिन' यह एक पद है, जो कि काम-क्रोधादि आन्तरिक विकारों और इन्द्रिय-विषयोंको जीत लेनेपर प्राप्त होता है। (देखो प्रवचनसार-अ० १ श्लोक ५-६)

और निरावरण अनन्तसुखका धनी

मनुष्य अपनी साधनाके द्वारा ज्यों-ज्यों अपने दैहिक
और मानसिक विकारोंपर विजय प्राप्त करता जाता है, त्यों-त्यों
उसमें 'जिनत्व' की मौलिकता बढ़ती जाती है। जैन शास्त्रोंकी परि-
भाषाके अनुसार 'जिनत्व' का प्रारम्भ अविरतसम्यक्त्व नामक
चतुर्थ गुणस्थानसे होता है, जहां पर कि इसके मिथ्यात्व, अनन्त
और अप्रत्याख्यान — मांस-मदिरादि अभक्ष्य-सेवनका परित्याग हो जाता है।
यह जिनत्व अपने गुणस्थानोंमें क्रमशः बढ़ आत्मा ज्यों ज्यों
आत्मिक गुणोंका अपने भीतर विकास और विकारोंका ह्रास करता
जाता है, त्यों-त्यों वह ऊपरके गुणस्थानों पर चढ़ता जाता है।
तेरहवें गुणस्थानमें पहुंचकर वह सर्व वीतराग बन जाता है
उसमें उसके भीतर राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोधादि विकारोंका सर्वथा
अभाव हो जाता है और केवलज्ञान प्रकट हो जाता है, जिसके
प्रकट होते ही वह सर्व पदार्थोंका युगपत् ज्ञाता और
द्रष्टा बन जाता है। इस प्रकार वीतराग और सर्वज्ञ बन जाने पर
ही मनुष्यके वचनोंमें प्रामाणिकता आती है, इसके पूर्व नहीं।
इस वीतरागी और सर्वज्ञ पुरुषको ही जैनशास्त्रोंमें
'जिन' या 'जिनदेव' ऐसी संज्ञा दी गई है और इस प्रकारके
'जिन' पदको प्राप्त पुरुषके द्वारा दिये उपदिष्ट धर्मको 'जैनधर्म'
कहते हैं। कहा जाता है।

जैनधर्मकी अनादिता—

यतः जैनधर्म अनादि है और अनादिकालसे ही अनेक महा-
पुरुष अपने विकारोंपर विजय प्राप्त करके अनन्त सुख
के स्वामी बने और उन्होंने उस पथ पर चलनेके सार्वत्रिक धर्मका
उपदेश दिया है, अतः जैनधर्म अनादि है। यह कहने की
आवश्यकता नहीं है कि बीच-बीचमें जैनधर्मका अभाव क्यों न होता रहा हो
पर उससे उसकी अनादितामें कोई अन्तर नहीं आता।

कालचक्रका परिवर्तन होता रहता है। जब किसी
उत्थानका युग आता है, मनुष्योंकी शारीरिक, मानसिक, तथा
आध्यात्मिक शक्तियां उत्तरोत्तर विकसित होती हैं और जब किसी
पतनका समय आता है, तब उक्त शक्तियोंका उत्तरोत्तर ह्रास
होता है। उत्थान और पतनके इस क्रमको कहने वाले
एक-एक कोड़ाकोड़ी उपमा दी गई है। कालचक्रमें छह आरे विभागको

प्रकट करते हैं और दूसरे को। विद्वान काले अरों को उत्सर्पिणी काल और हल्के अरों को अवसर्पिणी काल कहते हैं। इन दोनों ही कालों में चौबीस चौबीस तीर्थंकर इस देश के अनन्त काल से आज तक व्यतीत हो चुके हैं। यद्यपि हर युग में असंख्य महापुरुष 'जिनत्व' को प्राप्त कर धर्म का उपदेश देते हैं, तथापि हर उत्सर्पिणी के तीसरे आरे में और अवसर्पिणी के चौथे आरे में चौबीस चौबीस ऐसे महापुरुष होते हैं, जिनसे धर्मतत्व तीर्थ का विशेष प्रवर्तन करने के कारण तीर्थंकर कहा जाता है। ये तीर्थंकर भूले हुए धर्म का मार्ग लोगों को बतलाते हैं, साथ ही धर्म के नाम पर जो अन्धविश्वास लोगों में फैल जाता है, उसका निराकरण करते हैं और धर्म की भीतर की विकृतियों का संशोधन करते हैं।

वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल रहा है। इस का पंचम आरा चल रहा है। इस काल के चतुर्थ आरे के प्रारम्भ में भ० ऋषभदेव और अन्त में भ० महावीर हुए हैं। आज भ० महावीर द्वारा प्रवर्तित धर्मचक्र चल रहा है, इसलिए कितने ही लोग जैनधर्म को भ० महावीर से उत्पन्न या प्रचलित हुआ कहते हैं। पर वस्तुस्थिति अच्छी तरह जानी जा चुकी है, और तदनुसार भ० महावीर को जैनधर्म के इस युग में जैन धर्म के आदि प्रचारक नहीं, किन्तु अन्तिम प्रचारक मानना चाहिए। भ० महावीर, तथा उनके पूर्ववर्ती तेईसवें तीर्थंकर भ० पार्श्वनाथ और भ० अरिष्टनेमि तीर्थंकर भ० अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता पहले पूर्ण सिद्ध की जा चुकी है, तथा भ० आदि तीर्थंकर भ० ऋषभदेव के अस्तित्व के विषय में ऐतिहासिक प्रमाणिता सिद्ध है[1]।

---

[1] इसके लिए देखिए 'अहिंसावाणी' के विशेषांक में भ० ऋषभदेव और उनके श्रमण धर्म पर लेखक द्वारा लिखित एक लेख।

धर्मका स्वरूप — लक्ष्यके विवेचनसे यह बात सिद्ध हुई कि जिनदेवके द्वारा बतलाये गये धर्मको जैनधर्म कहते हैं। परन्तु वह धर्म क्या है, या उस धर्मका क्या स्वरूप है, जिसे कि जिनदेवने बतलाया है? इस प्रश्न का उत्तर जैन तीर्थंकरोंने 'वत्थुसहावो धम्मो' कहकर दिया है। अर्थात् प्रत्येक वस्तुका जो मूल स्वभाव है, वही उसका धर्म है। संक्षेपमें चेतन और अचेतन दो प्रकारकी वस्तुएँ पाई जाती हैं। उनमेंसे चेतन आत्माके मोह और क्षोभसे रहित शुद्ध स्वरूपको आत्माका धर्म कहा गया है। आत्माको अपने शुद्ध स्वरूपके प्राप्त करनेके लिए जैन तीर्थंकरोंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन उपाय बतलाये हैं, कारणमें कार्यका उपचार करके इन तीनोंको धर्ममें स्वभावरूप होनेसे 'रत्नत्रय धर्म' के नामसे पुकारा जाता है।

किसी भी कार्यमें सफलता पानेके लिए, प्रथमतः श्रद्धा, ज्ञान और आचरण; इन तीन बातोंकी आवश्यकता होती है। जैन शास्त्रोंमें इन्हींको क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहा है। श्रद्धा का अर्थ विवेक-पूर्वक आत्म-सम्बन्धी दृढ़ विश्वास है। आत्माके स्वरूपका यथार्थ जानना ज्ञान है और तदनुरूप आचरण करना चारित्र है। प्रत्येक विपत्तिसे छूटने और अपने स्वाभाविक सुखको पानेके लिए इन तीनोंकी ही आवश्यकता होती है। यदि कोई रोगी मनुष्य अपनी बीमारीसे छूटना चाहता है, तो उसे इस बातका दृढ़ विश्वास अवश्य होना चाहिए कि मुझे बीमारी है रोग है और मैं उससे छूट सकता हूँ। इसके पश्चात् उसे अपने रोगका निदान और चिकित्साका ज्ञान होना चाहिए। तत्पश्चात् औषधि-सेवनरूप आचरणका होना आवश्यक है, तब वह रोगसे उन्मुक्त हो सकेगा। इन तीनों बातोंमेंसे यदि किसी एककी भी कमी होगी, तो रोगसे मुक्ति नहीं मिल सकेगी। इसी प्रकार लौकिक दुःखसे विमुक्ति या आत्मिक सुखकी प्राप्तिके लिए भी इन तीनों ही बातोंकी आवश्यकता है। यही कारण है कि जैन तीर्थंकरोंने सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रको मोक्षका मार्ग बतलाया और इसी कारण उन तीनोंको धर्म कहा गया।

नयोंकी अपेक्षा वह द्वैतरूप हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान और चारित्रमें भी समझ लेना चाहिए।

एकांशरूप नयकी अपेक्षा — क्रोध, मान, माया और लोभ-ये चारों ही कषायें द्वैतरूप हैं, क्योंकि इनके कारण ही आठ कर्मका आस्रव किया जाता है, इस लोक और परलोक

उपर्युक्त विवेचनसे प्रत्यक्ष हुआ, स्नानादिकी उत्तरोत्तर महत्ता का स्पष्टीकरण भलीभांति हो जाता है। पर उसके और भी तरह-तरहके तर्क लक्षण लोगोंको समझानेके लिए यहां एक उदाहरण दिया जाता है। जिस प्रकार शारीरिक सन्तापकी शान्ति और स्वच्छता की प्राप्तिके लिए प्रतिदिन स्नान आवश्यक है, उसी प्रकार मानसिक सन्तापकी शान्ति और हृदय-की स्वच्छता या निर्मलताके लिए प्रति दिन पूजा-पाठ आदि भी आवश्यक जानना चाहिए। स्नान यद्यपि जलसे ही किया जाता है, तथापि उसके पांच प्रकार हैं— १ कुंएसे किसी पात्र-द्वारा पानी निकाल कर, २ बालटी आदिमें भरे हुए पानीको लोटे आदिके द्वारा शरीरपर छोड़कर, ३ नलके नीचे बैठ कर, ४ नदी, तालाब आदिमें तैर कर और ५ कुंआ, बावड़ी आदिके गहरे पानीमें डुबकी लगा कर। पाठक स्वयं अनुभव करेंगे कि कुंएसे पानी निकाल कर स्नान करनेमें श्रम अधिक है और शान्ति कम। पर इसकी अपेक्षा किसी बर्तनमें भरे हुए पानीसे लोटे द्वारा स्नान करनेमें शान्ति अधिक प्राप्त होगी और श्रम कम होगा। इस दूसरे प्रकारके स्नानसे भी तीसरे प्रकारके स्नानमें श्रम और भी कम है और शान्ति और भी अधिक। इसका कारण यह है कि लोटेसे पानी गिरते और शरीर पर उछलने के पश्चात् अन्त आजानेसे शान्तिका बीच-बीचमें अभाव भी अनुभव होता था, पर नलसे अविच्छिन्न जलधारा शरीर पर पड़नेके कारण स्नान-जनित शान्तिका लगातार अनुभव होता है। इस तीसरे प्रकारके स्नानसे भी अधिक शान्तिका अनुभव चौथे प्रकारके स्नानसे प्राप्त होता है, इसे तैरकर स्नान करनेवाले सभी अनुभवियोंको पता है। पर तैरकर स्नान करनेमें भी शरीरका कुछ न कुछ भाग जलसे बाहिर रहनेके कारण स्नान-जनित शान्तिका पूरा-पूरा अनुभव नहीं होता। इस चतुर्थ प्रकारके स्नानसे भी अधिक आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति किसी गहरे जलके भीतर डुबकी लगानेमें मिलती है। गहरे पानीमें थोड़ी ही देरकी डुबकीसे मानों शरीर का सारा सन्ताप एक दम निकल जाता है, और स्नानसे डुबकी लगाने वालेका दिल आनन्दसे भर जाता है।

~~इस उक्त पांचों प्रकारके स्नानोंमें जैसे शान्तिकी प्राप्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और श्रमका ह्रास होता जाता है और~~

उक्त पांचों प्रकारके स्नानोंमें जैसे शान्तिकी प्राप्ति उत्तरोत्तर अधिक होती जाती है और श्रमका ह्रास होता जाता है और आर्थिक दृष्टिसे भी उत्तरोत्तर लाभ ही लाभ है, हानि कुछ भी नहीं है। इसलिए हमें उक्त पांचों प्रकारके स्नानोंमें से उत्तरोत्तर अधिक लाभदायक स्नानको ही ग्रहण करना चाहिए।